धर्म के दस लक्षण

(दशकं धर्मलक्षणम्)

प्रस्तोत्री

डॉ० प्रियंवदा वेदभारती

श्रीमती ऋतम्भरा शास्त्री

॥ ओ३म् ॥

धर्म के दस लक्षण

(दशकं धर्मलक्षणम्)

प्रस्तोत्री

डॉ० प्रियंवदा वेदभारती

श्रीमती ऋतम्भरा शास्त्री

गुरुकुल आर्ष कन्या विद्यापीठ, श्रवणपुर, नजीबाबाद
जिला–बिजनौर (उ०प्र०)–२४६७६३

प्रकाशक :

श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास

हिण्डौन सिटी (राज०)–३२२ २३०

प्रकाशक : **श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास**
'अभ्युदय' भवन, अग्रसेन कन्या महाविद्यालय मार्ग,
स्टेशन रोड, हिण्डौन सिटी, (राज०)- ३२२ २३०
चलभाष : ०९४१४०३४०७२, ०९८८७४५२९५९
Email-aryaprabhakar@yahoo.com

संस्करण : सन् २०१४

मूल्य : २०.०० रुपये

लेजर टाईपसेटिंग : **आर्य लेजर प्रिंट्स, हिण्डौन सिटी, राजस्थान**

मुद्रक : **राधा प्रेस, कैलाश नगर, दिल्ली-११० ०३१**

पुरोवाक्

गुरुकल कन्या विद्यापीठ के उत्सव में सम्मिलित होने के लिए जब तीन दिन प्रकृति के मनोरम परिवेश में स्थित गुरुकुल परिसर में रहने का अवसर मिला तो आचार्या प्रियम्वदा वेदभारती के पुरुषार्थ, लगन तथा कन्या शिक्षण में उनकी अद्भुत रुचि के दर्शन हुए। यहाँ के शान्त, एकान्त तथा शालीनता युक्त वातावरण में जिस प्रकार कन्याओं के शारीरिक, बौद्धिक तथा मानसिक विकास तथा चारित्रिक उत्थान का श्लाघनीय कार्य हो रहा है, वह हमारे इस विश्वास को दृढ़ करता है कि किसी महत् लक्ष्य की पूर्ति के लिए यदि कोई स्वयं को सर्वात्मना समर्पित कर दे तो गन्तव्य तक पहुँचना कठिन नहीं होगा।

विद्या व्यासंग के इसी रम्य तथा सघन वातावरण में विद्यापीठ की छात्राओं ने जो कार्यक्रम प्रस्तुत किये तथा अपने मन्तव्यों को जिस प्रकार वाणी का रूप प्रदान किया उसकी एक झलक पाठकों को आगे के पृष्ठों में देखने को मिलेगी। धर्म के मनु-प्रोक्त दस लक्षणों की व्याख्या और उनकी विवेचना यह बताती है कि आर्ष ग्रन्थों में धर्म को नैतिक मूल्यों की समष्टि माना गया है। न कि बाह्य क्रियाओं तथा कर्मकाण्ड का संकुल। यही कारण है कि धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध इन मनूक्त दश लक्षणात्मक धर्म के आरम्भ में अहिंसा को स्थान देकर महर्षि दयानन्द ने उसे समग्रता तथा पूर्णता प्रदान की थी। विद्यापीठ की छात्राओं द्वारा जो व्याख्या प्रस्तुत की गई उससे इन लक्षणों का स्वरूप तथा उनकी महत्ता उजागर हुई है।

आर्यसमाज के दस नियमों पर दिये गये कन्याओं के व्याख्यानों को भी बहुत सूझबूझपूर्ण कहा जा सकता है। आर्यसमाज के दस नियम मानव के सर्वविध हित तथा कल्याण का एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। आर्यसमाज के अनुयायियों की आस्तिक अवधारणा इसके प्रथम दो नियमों में दिखाई देती है जहाँ हम ईश्वर के स्वरूप तथा उसके कुछ प्रमुख लक्षणों का उल्लेख पाते हैं। दूसरे नियम

की इस पंक्ति को विशेष रूप से रेखांकित किया जाना चाहिए जिसमें परमात्मा को जीवात्मा के लिए एकमात्र आराध्य, उपास्य तथा वन्दनीय कहा गया है। अवशिष्ट नियमों में वेद, सत्य, धर्म, विद्या, सर्वोपकार तथा व्यक्ति और समाज की सापेक्षिक निर्भरता को सुस्पष्ट किया गया है। अंग्रेज दार्शनिक और चिन्तक जे० एस० मिल ने व्यक्ति और समाज की पारस्परिक इति-कर्त्तव्यता का निरूपण जिस प्रकार किया था, आर्यसमाज का नवाँ तथा दसवाँ नियम लगभग उसी दृष्टि बिन्दु का समर्थन करता है। दो महापुरुषों का परस्पर सुदूर रहते हुए भी चिन्तन किस प्रकार एक ही सरणि का अनुसरण करता है, यह इस तथ्य से स्पष्ट होता है।

संसार के वर्तमान में प्रचलित मत-सम्प्रदायों के अनुयायी तथा प्रचारक स्व स्व मतों की विशिष्टताओं को प्रायः उद्घाटित करते हैं। इसी कार्यक्रम के अन्तर्गत छात्राओं ने एक परिसंवाद का आयोजन किया जिसमें वैदिक धर्म, सनातन पौराणिक धर्म, ईसाइयत, इस्लाम तथा अनीश्वरवादी विचारधारा के समर्थकों ने अपनी वक्तृताओं के द्वारा अपनी-अपनी मान्यताओं को विभिन्न युक्तियों एवं प्रमाणों द्वारा पुष्ट किया। सैमेटिक मज़हबों में सर्वाधिक अर्वाचीन इस्लाम है जिसकी मान्यता मोहम्मद को अन्तिम पैगम्बर के रूप में स्वीकार कर कुरान को अल्लाह के आखिरी कलाम (वचन) के रूप में स्वीकार करना है। इन सभी मत-पन्थों के पुरस्कर्ताओं ने विभिन्न युक्तियों तथा तर्कों द्वारा स्व मत को सर्वोपरि मान्य कहा तथा उसकी स्वीकार्यता पर बल दिया। वैदिक धर्म के प्रवक्ता ने सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर-प्रदत्त वेदज्ञान को मनुष्यों का सर्वमान्य धर्म सिद्ध किया। जिस प्रकार आर्यसमाज के विश्रुत लेखक स्व० पं० गंगाप्रसाद जज ने फाउण्टेन हैड ऑफ रिलीजन लिखकर वैदिक धर्म की सर्वाधिक प्राचीनता तथा अन्यान्य मत-पन्थों की मान्यताओं का वेदमूलक होना सिद्ध किया था, उसी प्रकार का प्रयास इस परिसंवाद में वैदिक धर्म के प्रस्तोताओं का रहा और वे अपने लक्ष्य में सफल रहे। गुरुकुल की सुयोग्य आचार्या डॉ० प्रियम्वदा वेदभारती और छात्राएँ साधुवाद की पात्र हैं।

—डॉ० भवानीलाल भारतीय
पूर्व अध्यक्ष-दयानन्द वैदिक शोधपीठ
पंजाब विश्वविद्यालय-चण्डीगढ़

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्

धर्म के दस लक्षण (दशकं धर्मलक्षणम्) नामक लघुकाय पुस्तिका वस्तुत: २००९ के वार्षिकोत्सव में ब्रह्मचारिणियों द्वारा प्रस्तुत वक्तव्यों का संकलन है। मनुस्मृति में प्रोक्त धृति क्षमा आदि धर्म के लक्षण अत्यन्त गम्भीर तथा विस्तार सापेक्ष है पुनरपि षष्ठ, सप्तम, अष्टम कक्षा की ब्रह्मचारिणियों की पात्रता देखते हुये तथा मञ्च की समयगत विवशता को देखते हुये लघु वक्तव्य ही लिखे गये। छोटे बच्चों के मुख से नि:सृत सटीक शब्द कई बार बड़ों की अपेक्षा अधिक प्रभावकारी होते हैं यह सोचकर ही इसे प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया।

धर्म शब्द धृञ् धारणे धातु से औणादिक मन् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। धर्म शब्द पुल्लिंग तथा नपुंसक लिंग भेद से उभयलिङ्गी है किन्तु जहाँ यह कर्मवाचक है वहीं नपुंसक लिंग में प्रयुक्त होता है अन्यत्र प्राय: पुल्लिंग में ही प्रयुक्त होता है। धारणार्थक धृञ् धातु से निष्पन्न इस धर्म शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य प्रथम अर्थ है— चराचर जगत् जिसको धारण करते हैं या जिसके आधार पर अस्तित्व पाते हैं वह गुण अथवा स्वभाव। संस्कृत वाङ्मय में धर्म शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में देखा जाता है। तद्यथा—ब्राह्मणत्व क्षत्रियत्व मनुष्यत्व आदि शब्दों में—**"यस्य गुणस्य भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने तस्मिन् गुणे वक्तव्ये प्रत्ययेन भवितव्यम्"** (महाभाष्य ५।१।११८) महाभाष्य के इस वचन के आधार पर जिस प्रधान गुण की विद्यमानता होने से ब्राह्मणादि पदों का प्रयोग या व्यवहार किया जाता है उस गुण व शक्ति का नाम धर्म है। योगदर्शन के विभूतिपाद के—**"शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी"** (योग दर्शन ३।१४) सूत्र के व्यास भाष्य में भी पदार्थ की शक्ति को धर्म बताया गया है। यजुर्वेद के—**"यज्ञेन यज्ञमयजन्त तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्"** (३१।१६) में धर्म शब्द कर्म का पर्यायवाची है। **"अथातो धर्मं व्याख्यास्याम:"** (वै० १।१।१) **"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म:"** (मी० १।१।२) आदि षड् दर्शनों में वेदोक्त विधि वाक्यों को धर्म कहा गया है (निषेधवाक्य-अर्थवाद

और अनुवादवाक्यों की विधिवाक्यों के साथ एकवाक्यता होने से वे भी वेदोक्त विधान के अन्तर्गत आ जाते हैं)। "**श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्**" (मनु० २।९) में श्रौत स्मार्त कर्म ही धर्म है, "**धर्मं शनैः सञ्चिनुयात्**" "**युवैव धर्मशीलः स्यात्**" इत्यादि स्थलों में शुभ कर्मों या कर्त्तव्यों को धर्म कहा गया है, कहीं केवल सत्य का ही नाम धर्म है। इस प्रकार धर्म शब्द को किसी एक अर्थ में बाँध कर नहीं रखा जा सकता। प्रकरणानुसार यह विविध अर्थों वाला हो जाता है। सूक्ष्मतया विचार करें तो ये सभी अर्थ धातु से निस्सृत प्रथम अर्थ से बहुत भिन्नता नहीं रखते, उसी अर्थ के प्रपञ्च=विस्तार मात्र हैं। अस्तु।

वर्तमान युग में धर्म शब्द का लोकप्रचलित अर्थ कर्मकाण्ड तथा दया दाक्षिण्यादि गुण। "अमुक व्यक्ति धर्मात्मा है" कहते ही जिसके अन्तःकरण में दया कोमलता अहिंसा सत्य अस्तेय शौच इन्द्रियनिग्रह आदि धर्म कर्त्तव्य रूप में अवस्थित है उसका बोध होता है अथवा शास्त्रोक्त शुभ कर्मों के अनुष्ठान में जिसकी रुचि है श्रद्धा है उसका बोध होता है कर्मकाण्ड की जटिलता तथा विविधता के कारण यह शब्द अवान्तर सम्प्रदायों या मत मजहबों में भी प्रयुक्त होने लगा जो कि सर्वथा अग्राह्य है, अमान्य है। संस्कृत वाङ्मय का धर्म शब्द किन्हीं व्यक्तिगत संकुचित धारणाओं का नाम न होकर मनुष्य मात्र के द्वारा धारण करने योग्य गुणों का नाम है। वे धारणीय गुण या कर्म कौन है इसका निर्णायक वेद है— "**वेदोऽखिलो धर्ममूलम्**" सम्पूर्ण वेद धर्म का मूल है। ऋषियों ने इसी वेदवृक्ष से कतिपय शाश्वत धर्म सार्वभौम धर्म स्वबुद्ध्यनुसार निर्दिष्ट किये। उपनिषत्कारों ने—"**त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयः।**" (छान्दोग्य २।२३।१) कहकर धर्म के तीन स्कन्ध= स्थूल शाखाएँ बताईं। यज्ञ अध्ययन दान प्रथम स्कन्ध है तप द्वितीय स्कन्ध है और तृतीय स्कन्ध ब्रह्मचर्य पूर्वक आचार्य कुल में अध्ययन करने वाला ब्रह्मचारी है। महाभारतकार ने—अहिंसा, समता, शान्ति, तप, शौच, अमत्सर को धर्मरूप दुर्ग का द्वार बताया, विदुर महाराज ने—

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा घृणा।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः॥

कहकर धर्म के आठ मार्ग बताये तो मनु महाराज ने "**धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या.......**", कहकर धर्म के दस लक्षण बताये। प्रस्तुत पुस्तिका मनु के इन्हीं दस लक्षणों पर आधारित है।

गुरुकुल के वार्षिकोत्सव में आर्यजगत् के सुगृहीतनामधेय विद्वान् डॉ० भवानीलाल भारतीय ने धर्म के इन लक्षणों को गुरुकुल की छोटी-छोटी कन्याओं के मुखारविन्द से सुनकर उसी दिन पुरोवाक् के रूप में अपने विचार लिख दिये, जिसके लिए मैं उन्हें हृदय से धन्यवाद देती हूँ। डॉ० भारतीय जी के पुरोवाक् में इसी उत्सव में आर्यसमाज के दस नियमों पर दिये गये कन्याओं के व्याख्यानों की भी चर्चा है। २००९ में आयोजित गुरुकुल के इस वार्षिकोत्सव में कन्याओं द्वारा आर्यसमाज के दस नियमों पर व्याख्यान तथा विभिन्न मतावलम्बियों द्वारा शास्त्रार्थ का रोचक कार्यक्रम भी प्रस्तुत किया गया था इसलिए डॉ० भारतीय जी के पुरोवाक् में इन तीनों कार्यक्रमों की चर्चा की गई है। इनमें से एक धर्मलक्षण विषयक कन्याओं के वक्तव्यों को पुस्तिका में प्रकाशित किया जा रहा है। शेष दो कार्यक्रमों का प्रकाशन इसी श्रृंखला में आगे किया जायेगा।

यह पुस्तिका आकार में स्वल्पकाय होते हुये भी सैद्धान्तिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। कन्याओं के वक्तव्यों को लिखने का कार्य मैंने और मेरी अनुजा श्रीमती ऋतम्भरा शास्त्री ने किया है। इसकी सम्पूर्ण पाण्डुलिपि को पढ़कर यथेष्ट परामर्श पूज्य पं० रामचन्द्र जी (सोनीपत) ने दिये। एतदर्थ उन्हें भूरिशः धन्यवाद। वक्तव्यों के अन्त में उससे सम्बद्ध धर्मशास्त्रों के कुछ चुने हुए श्लोक अर्थ सहित यहाँ दे दिये गये हैं। निस्सन्देह इससे इस पुस्तक की उपयोगिता बढ़ गई है। श्लोकों का सञ्चयन पूज्य आचार्य सत्यानन्द वेदवागीश जी द्वारा सम्पादित **सूक्तिनिधि** से किया गया है।

यह पुस्तिका घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास के अध्यक्ष माननीय प्रभाकरदेव जी आर्य के कृपापूर्ण सौजन्य से प्रकाशित की जा रही है, एतदर्थ भूरिशः धन्यवाद। अक्षर संयोजन में अत्यन्त अवधानपूर्वक कार्य करने वाले भ्राता श्री अभय मिश्र जी को भी भूयोभूयः साधुवाद।

—डॉ० प्रियंवदा वेदभारती

धृति

आदरणीय विद्वज्जन! भाइयो एवं बहिनो!

मनुस्मृति में मनु महाराज ने धर्म के दस लक्षण अर्थात् दस चिह्न बताये हैं। श्लोक इस प्रकार है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

—मनु० ६।९२

श्रोतृवृन्द! धृति, क्षमा, दम आदि, ये सभी दस लक्षण मनुष्यों के द्वारा धारण करने योग्य गुण हैं। तात्पर्य यह हुआ कि मनु महाराज की दृष्टि में अमुक व्यक्ति धर्मात्मा है, अमुक व्यक्ति धार्मिक है, इसकी पहचान उसके गुणों से होती है न कि बाह्य वेश-भूषा से। इसी बात को अन्यत्र भी दूसरे शब्दों में कहा गया—

'न लिङ्गं धर्मकारणम्'

अर्थात् धर्म का कारण बाह्य चिह्न नहीं, धर्म तो अन्दर से जीने की वस्तु है। हाँ! तो सुनिये मनुप्रोक्त धर्म के लक्षणों में पहला लक्षण है धृति। धृति का अर्थ होता है धैर्य। किसी भी काम को सुचारुता से करने के लिए धैर्य की अपेक्षा होती है। धैर्य से कार्य सम्पादन के लिए, बुद्धि की स्थिरता आवश्यक है, इसलिए स्थिर बुद्धि ही धैर्य की जननी है। चञ्चल बुद्धि से किया हुआ कार्य परिणाम में श्रेष्ठ नहीं हो सकता, अतः प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि धैर्य जैसे गुण को अपने अन्दर अवश्य धारण करे। धैर्य के विषय में किसी कवि ने क्या ही सुन्दर लिखा है—

धैर्यं न त्याज्यं विधुरेऽपि काले धैर्यात् कदाचित् गतिमाप्नुयात्सः।
यथा समुद्रेऽपि च पोतभङ्गे सांयान्त्रिको वाञ्छति तर्तुमेव॥

अर्थात् विपरीत से विपरीत अवस्थाओं में भी मनुष्य को उसी प्रकार धैर्य का परित्याग नहीं करना चाहिए जिस प्रकार नाविक नौका में छेद को जानकर भी धैर्य से नाव खेता हुआ पार जाने की

इच्छा रखता है। धैर्य रखने से निश्चित शुभ परिणाम सामने आते हैं। भगवती सीता ने रावण की अशोक वाटिका में रहते हुए पूर्ण धैर्य का परिपालन किया, परिणामस्वरूप भगवान् राम से मिलने का शुभावसर आ ही गया।

इसी प्रकार धर्म के साक्षात् विग्रह भगवान राम को भी हम सर्वत्र धैर्यरूपी गुण से विभूषित पाते हैं। महर्षि वाल्मीकि ने राम के चरित्र की विशेषता बताते हुए कहा—

स च सर्वगुणोपेतः कौसल्यानन्दवर्धनः।
समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव॥

—बाल० १७६

अर्थात् भगवान् राम गम्भीरता में समुद्र के समान थे और धैर्य में हिमालय के तुल्य।

भाइयो एवं बहिनो! मनुष्य के जीवन के प्रत्येक कार्य एवं प्रत्येक निर्णय में धैर्य की अपेक्षा होती है। अस्थिरचित्त से लिया हुआ निर्णय महान् अनर्थ का जनक हो जाता है। कहते हैं—सारी दुनिया महाकवि भारवि के पाण्डित्य की प्रशंसा करती थी, किन्तु भारवि के पिता सदैव उसकी निन्दा किया करते थे। इस कारण भारवि अपने पिता से रुष्ट रहा करते थे। एक बार उन्होंने अपने पिता के वध करने का निश्चय कर लिया, हथियार छिपाकर वे उचित अवसर की प्रतीक्षा में थे कि देखा पिताजी, माताजी चाँदनी रात में बैठे वार्तालाप कर रहे हैं। पिताजी कह रहे हैं—मेरा भारवि विद्वानों में ऐसा ही निष्कलंक है जैसा कि यह चन्द्रमा। इस बात को सुनकर माताजी ने आश्चर्य से पूछा—पर आप भारवि के सामने तो उसकी निन्दा ही करते हैं' -ऐसा क्यों? पिता ने कहा—अरे! भारवि के सामने भारवि की निन्दा मैं केवल इसलिए करता हूँ कहीं उसे अहंकार न हो जाए। अहंकार से प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। मैं अपने भारवि को बहुत ऊँचे स्थान पर प्रतिष्ठित देखना चाहता हूँ। छुपकर बैठे हुए भारवि ने जैसे ही पिताजी के वचन सुने कि वह प्रायश्चित्त की अग्नि में जलने लगा, उसने सोचा कहाँ मैं पिताजी का वध करने जा रहा था, और कहाँ पिताजी के मेरे प्रति ये उदात्त भाव। बन्धुओ! इसी प्रकार क्षणिक आवेश में, चञ्चलचित्त से लिये निर्णय महान् कष्टदायक हो जाते हैं इसलिए पर्याप्त विचार

करके धैर्यपूर्वक ही प्रत्येक निर्णय लिया जाना चाहिए।

महाकवि भारवि का ही प्रसिद्ध वाक्य है—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्॥

अर्थात् किसी कार्य को बिना विशेष विचार किये सहसा नहीं करना चाहिए। क्योंकि धैर्य को छोड़कर सहसा कोई कार्य करने से वह अविवेकयुक्त कार्य अनेक आपत्तियों-विपत्तियों का कारण बन जाता है।

उपसंहार करते हुए इतना मैं अवश्य कहना चाहूँगी कि धैर्य का अर्थ आलस्य नहीं होता, निष्कर्मण्यता भी नहीं होता। स्थिर बुद्धि से यथावसर किया जाने वाला कार्य ही धैर्य अथवा धृति का परिचायक है। इस प्रकार धैर्यपूर्वक निर्मल बुद्धि से लिया गया प्रत्येक निर्णय एवं तदनुसार कार्य धर्म ही होगा। धैर्य के विषय में मैं इतना ही कहकर अपनी वाणी को विराम देती हूँ। धन्यवाद।

आप्त वचन

धृतिर्नाम सुखे दुःखे यया नाप्नोति विक्रियाम्।
तां भजेत् सदा प्राज्ञो य इच्छेद् गतिमात्मनः॥

अर्थ—सुख में अथवा दुःख में, जिसके कारण मनुष्य विकार को प्राप्त नहीं होता उसे धृति कहते हैं। जो बुद्धिमान् मनुष्य अपनी उत्तम गति चाहता हो वह धृति (धैर्य) का सेवन करे।

सुखं च दुःखं च भवाभवौ च, लाभालाभौ मरणं जीवितं च।
पर्यायशः सर्वमेते स्पृशन्ति, तस्माद्धीरो न च हृष्येन्न शोचेत्॥

अर्थ—सुख और दुःख उत्पत्ति और विनाश, लाभ और हानि तथा मरण और जीवन, ये बारी-बारी से सबको प्राप्त होते रहते हैं, अतः धैर्यशाली मनुष्य को इसके लिए हर्ष या शोक नहीं करना चाहिए।

क्षमा

धर्म का दूसरा लक्षण है क्षमा। क्षमा शब्द '**क्षमूष् सहने**' धातु से अङ्-प्रत्यय एवं टाप् प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है। प्रकृति-प्रत्यय के अनुसार क्षमा का सीधा-सा अर्थ है सहन करना। यह शब्द सुनने में जितना सरल है उतने ही गूढ़ अर्थ की अपेक्षा रखता है। इसे समझने के लिए हमें यह सोचना है कि अपराध करने पर भी किस प्रकार के अपराधी व्यक्ति को क्षमा किया जाये और उसे कौन क्षमा करे। यह तो निश्चित है कि बड़ों के द्वारा किये हुए अपराध को छोटा व्यक्ति यदि सहन करता है तो वह छोटे के द्वारा क्षमा नहीं बल्कि असामर्थ्य कहा जायेगा, किन्तु छोटे के द्वारा अपराध किये जाने पर सामर्थ्यवान् बड़े व्यक्ति द्वारा अपराध का प्रतीकार न करना, सहन कर लेना निश्चय ही क्षमा है और इसके अतिरिक्त जो समानवयस्क है, किसी आधार पर समानस्तरवाले हैं उन्हें अपराध करने पर यदि सहन कर लिया जाये तो इसे क्या कहा जायेगा क्षमा या कुछ और? वास्तव में क्षमा की परीक्षा यहीं पर होती है। व्यक्तिगत अपराध के लिये स्वार्थ से ऊपर उठकर अपराधी को अवश्य क्षमा करना चाहिये। पर सामाजिक स्तर के अपराध के लिये हमें क्षमा शब्द पर थोड़ा और विचार करना होगा।

श्रोतृगण! क्रिया की प्रतिक्रिया होना एक आवश्यक सिद्धान्त है। किसी ने गाल पर थप्पड़ मारा उस थप्पड़ का जबाव देना यह तो प्रतिक्रिया है ही, किन्तु दूसरा गाल आगे बढ़ा देना इसे भी प्रतिक्रिया कह सकते हैं। दूसरा गाल आगे बढ़ाने पर आप क्षमाशील अवश्य कहे जायेंगे, पर आपको इस बात पर अवश्य विचार करना होगा कि कहीं इस प्रकार क्षमा करने से अपराधी को अपराध करने में प्रोत्साहन तो नहीं मिल रहा। यदि ऐसा है तब तो समाज में अराजकता उत्पन्न हो जायेगी। सम्पूर्ण प्रशासन विभाग निष्फल हो जायेगा और इतना ही नहीं मनु का दण्ड विधान भी व्यर्थ हो जायेगा। अजब विरोधाभास है क्षमा करने पर अपराध बढ़ेगा और अपराधी को अपराध की सजा देने पर धर्म के इस अंग का उपयोग न हो पायेगा। नहीं! जरा धैर्य से विचार कीजिए। महर्षि मनु का

यह लक्षण व्यर्थ नहीं है। आवश्यकता है केवल क्षमा शब्द पर और चिन्तन की। अभी हम क्षमा शब्द को सिद्ध करनेवाली धातु **क्षमूष् सहने** तथा **षह मर्षणे** का ही अर्थ जान पाये हैं। इसका अर्थ जानने के लिये **मृष तितिक्षायाम् तिज निशाने**, और **शो तनूकरणे** धातुओं पर विचार करना अभी शेष है। इन धातुओं के आधार पर सहन, मर्षण, क्षमा के पर्यायवाची अवश्य हैं, किन्तु तितिक्षा न केवल क्षमा का पर्यायवाची है प्रत्युत एक और अर्थ को समेटे हुए है वह है तनूकरण। यह तनूकरण अर्थात् छेदन-भेदन ही हमें क्षमा के उस वास्तविक अर्थ तक पहुँचाता है। जहाँ से हम दुविधाग्रस्त होकर लौट आते हैं और भयंकर अपराधी को भी छोड़ देते हैं पुनः नया अपराध करने के लिये। मेरा संकेत आप समझ गये होंगे। भारत से द्रोह करनेवाले धर्म का नाश करनेवाले मुहम्मद गौरी को पृथ्वीराज चौहान ने एक बार नहीं अनेक बार क्षमा किया था। यदि पृथ्वीराज चौहान उसी समय साँप के बढ़ते हुये फन को कुचल देते तो देश को ये दुर्दिन नहीं देखने पड़ते। इतिहास ने अपने आपको फिर दोहराया है। गृहमन्त्री की बेटी का अपहरण या हवाई जहाज का अपहरण, घटना बहुत पुरानी नहीं है। हमने देश के साथ सौदा किया और भयंकर आतंकवादियों को छोड़ दिया। इससे आक्रमणकारियों को आतंकवादियों को क्या हमने यह सन्देश नहीं दिया कि तुम अपराध पर अपराध करो हमें क्षमा का यह रूप बखूबी निभाना आता है। हम तुम्हारी शर्तों पर एक क्या कई आतंकवादियों को छोड़ सकते हैं। अफसोस है हमने श्री कृष्ण महाराज को अपना आदर्श नहीं बनाया। वे योगी थे, वे जानते थे— "**क्षमा वीरस्य भूषणम्।**" वे यह भी जानते थे—

यस्मिन् यथा वर्त्तते यो मनुष्यः तस्मिंस्तथा वर्त्तितव्यं स धर्मः।
मायाचारो मायया वर्त्तितव्यः साध्वाचारो साधुना प्रत्युपेयः॥

जैसे के साथ तैसा व्यवहार करना ही धर्म है। इसलिए उन्होंने पाञ्चजन्य उद्घोष किया, सुदर्शन चक्र उठाया।

बन्धुओ! ऋषि-महर्षि जानते थे कि निकृष्ट व्यक्ति बातों की भाषा नहीं समझते वे शक्ति की भाषा ही समझते हैं, इसलिए उन्होंने "**शठे शाठ्यं समाचरेत्**" "**कण्टकेनैव कण्टकम्**" जैसी नीति बरतने का आदेश दिया और ये नीति भी क्षमा से पृथक् नहीं। धन्यवाद।

दम

धर्म का तीसरा लक्षण है दम। "दमो नाम मनसो वृत्तिनिग्रहः" मन की वृत्तियों के निग्रह करने को दम कहते हैं। यह जान लेने पर कि मन की वृत्तियों का निग्रह ही दम है यह जानना भी जरूरी है कि मन किसे कहते हैं, वह कितने प्रकार का है और उसकी वृत्तियाँ कौन-कौन-सी हैं।

भाइयों एवं बहिनो! आठ चक्र नौ द्वारोंवाली देवपुरी का शासन कार्य चलाने के लिए इसके अधिष्ठाता जीवात्मा को परमात्मा ने अनेक अद्वितीय उपकरण दिये हैं। इन्हीं उपकरणों में एक अद्वितीय उपकरण है मन। बुद्धि और चित्त के साथ मन मस्तिष्क में निवास करता है। मन सारे शरीर की क्रियाओं का सञ्चालक व नियन्त्रक है। मन के मुख्य तीन भाग हैं—

देव मन, यक्ष मन, धृति मन।

मन के इन तीनों भागों की चर्चा यजुर्वेद के प्रसिद्ध शयनकालीन शिवसंकल्प मन्त्रों में इस प्रकार आई है—

(१) यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवम्..............., (२) यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानाम्............, (३) धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु........ ॥

देव मन ज्ञानेन्द्रियों का अधिष्ठाता है। ज्ञानेन्द्रियों से बाहरी विषयों का जितना भी बोध होता है वह देव मन के द्वारा ही होता है। इसी प्रकार यक्ष मन कर्मेन्द्रियों का स्वामी है। जो भी कर्म हम कर्मेन्द्रियों के द्वारा करते हैं वह यक्ष मन के द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। धृति मन शरीर की सारी स्वचालित क्रियाओं का स्वामी है। आन्तरिक अवयवों की क्रियायें जो स्वतः ही होती रहती है वे धृति मन के नियन्त्रण में ही होती हैं। यह आत्मा का बड़ा ही विश्वासपात्र और आज्ञाकारी सेवक है। सोते समय प्रातः चार बजे उठाने का आदेश इसी धृति मन को आत्मा देता है और वह उसे अवश्य पूरा करता है। धृति मन अनेकानेक समस्यायें सुलझाने में भी बुद्धि का

सहयोग करता है। उदाहरणार्थ—दिन भर की माथापच्ची के बाद भी जब हम किसी समस्या का हल नहीं निकाल पाते प्राय: देखा जाता है प्रात: उठते ही उस समस्या का समाधान स्वत: ही हो जाता है यह धृति मन का ही चमत्कार है।

इस प्रकार अन्त:करण-चतुष्टय का एक प्रबल भाग मन शरीर की सभी क्रियाओं का सञ्चालक व नियन्त्रक है। ऐसे शक्तिशाली मन को शिवसंकल्प वाला बनाना ही **दम** है। शिवसंकल्पवाले मन का सान्निध्य पाकर ही आत्मा परमात्मा के चिन्तन में लीन हो सकता है—तभी तो यजुर्वेद के मन्त्रों में मन की अद्‌भुत शक्ति का आभास कराते हुए छह बार प्रार्थना की गई—

'**तन्मे मन: शिवसंकल्पमस्तु**' हे प्रभो! मेरा मन शिवसंकल्प करनेवाला हो। योगियों द्वारा भी कहा गया—"**जितं जगत् केन? मनो हि येन**" संसार को किसने जीता? जिसने मन को जीत लिया।

इसी मन के जीतने पर इस इन्द्रियों का भी नियन्त्रण किया जा सकता है। अर्थात् धर्म के इन्द्रियनिग्रहरूपी लक्षण को दम का ही प्रपञ्च या विस्तार समझना चाहिये। ओम् शम्।

आप्त वचन

दमस्तेजो वर्धयति, पवित्रं दम उच्यते।
विपाप्मा निर्भयो दान्त:, पुरुषो विन्दते महत्॥

अर्थ—दम तेज को बढ़ाता है (अत:) दम को पवित्र कहा गया है। दम का अभ्यासी मनुष्य निष्पाप तथा निर्भीक होकर महान् फल को प्राप्त करता है।

सुखं दान्त: प्रस्वपिति, सुखं च प्रतिबुध्यते।
सुखं लोके विपर्येति, मनश्चास्य प्रसीदति॥

अर्थ—दम का अभ्यासी सुखपूर्वक सोता है और सुखपूर्वक जागता है। वह सुख से संसार में व्यवहार करता है और इसका मन प्रसन्न रहता है।

अस्तेय

आदरणीय बन्धुओ ! एवं मातृशक्ति !

जीवन में धारण करने योग्य चौथा गुण है अस्तेय। संस्कृत भाषा में चोर को स्तेन भी कहते हैं। स्तेन का जो कर्म वह स्तेय और स्तेय का न होना अस्तेय कहाता है। इस प्रकार अस्तेय का अर्थ हुआ चोरी न करना। मनुस्मृति के टीकाकार अस्तेय की व्याख्या करते हुये लिखते है—'**अन्यायेन परधनादिग्रहणं स्तेयम्, तद्भिन्नमस्तेयम्**' अर्थात् अन्याय से दूसरे का धन न लेना ही अस्तेय है। बन्धुओ ! यह चोरी केवल शरीर से ही नहीं की जाती, मन से भी की जाती है तभी दर्शनकारों ने कहा—'**स्तेनं मनः**' अर्थात् मन भी चोर होता है। जब हम किसी के धन, सम्पत्ति, (सौन्दर्य) महल आदि को देखकर उसे येन केन प्रकारेण प्राप्त करने की मन में ठान लेते हैं, उसे हथियाने की योजना बनाते हैं तब वह मानसिक चोरी होती है। इसी प्रकार शरीर और मन के साथ-साथ शास्त्रों में वाणी को भी चोर कहा है। जब किसी के धन आदि प्राप्त करने की इच्छा लेकर उस व्यक्ति के विषय में वाणी से विष वमन किया जाता है, बन्दूक आदि दिखाकर डराया धमकाया जाता है, अनुचित दबाव डाला जाता है, उस समय वह मनुष्य वाचिक चोरी करने में तल्लीन होता है। और जब वहाँ शरीर का भी सहयोग प्राप्त हो जाये अर्थात् उस व्यक्ति को क्षत-विक्षत लहूलुहान कर, अपने से मुकाबले के अयोग्य बनाकर बलपूर्वक उसके परिसर में, घर में प्रवेश कर सम्पत्ति का हरण किया जाता है वह शारीरिक चोरी कहाती है। इन **तीनों प्रकारों** की चोरियों से बचना ही धर्म है।

बन्धुओ ! इस अस्तेय पर गम्भीरता से विचार करे तो यह बिन्दु भी सामने आयेगा कि प्रभु ने हमें पुरुषार्थी बनकर सत्याचरण से धन कमाने का आदेश दिया है '**मा गृधः कस्यस्विद्धनम्**' किसी के धन को जबर्दस्ती लेने का निषेध किया है। चोरी केवल दूसरों के

धन को उनकी आज्ञा के बिना ले लेने पर ही हो ऐसी बात नहीं, आजकल चोरी के अनेक रूप उभरकर सामने आ रहे हैं। टैक्स की चोरी, रेल भाड़े की चोरी, मिल-मजदूरों के बोनस की चोरी, परिग्रह से माल को छिपाकर संग्रह करने और जरूरतमन्द जनता को उससे वञ्चित करने की चोरी, किसी की उन्नति में बाधक बनकर उससे अधिकार छीनने की चोरी, भोली-भाली जनता को भ्रमजाल में फँसाने के लिये सत्यसनातन वेदों के सही ज्ञान को छिपाने की चोरी आदि कितनी ही चोरियाँ है जो दिन-रात होती रहती हैं। मान्यवर! इतनी सूक्ष्मता से चिन्तन करें तो हममें से प्रत्येक व्यक्ति आज किसी न किसी प्रकार के स्तेय में लिप्त है। स्तेय में लिप्त रहनेवाले व्यक्ति का उत्थान सम्भव नहीं, अतः इस स्तेयरूपी पाप से बचने का प्रयास करना चाहिये। मनुष्य के जीवन में **अस्तेय** का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है यह इसी बात से समझा जा सकता है कि जहाँ पातञ्जल योगदर्शन में पाँच यमों में इसे स्थान देकर परमात्मा की प्राप्ति में सहायक बताया गया वहीं मनु महाराज ने धर्म के दस लक्षणों में इसे स्थान दिया। सार यह है कि प्रत्येक आत्मोन्नति अभिलाषी व्यक्ति को **अस्तेय** व्रत की साधना अवश्य करनी चाहिये। धन्यवाद।

आप्त वचन

अन्यदीये तृणे रत्ने काञ्चने मौक्तिकेऽपि वा।
मनसा विनिवृत्तिर्या तदस्तेयं विदुर्बुधाः॥

अर्थ—परांये तृण, रत्न, स्वर्ण और मोती आदि (के ग्रहण करने) में मन से भी जो प्रवृत्ति का न होना है वह अस्तेय है, ऐसा ज्ञानी लोग कहते हैं।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्। —योग० २।३७
सर्वदिक्स्थान्यस्योपतिष्ठन्ते रत्नानि। —योग० व्यास०

अर्थ—अस्तेय वृत्ति के पूर्ण अभ्यास हो जाने पर साधक के पास, सब रत्नों की उपस्थिति हो जाती है अर्थात् सम्पूर्ण दिशाओं से उत्तमोत्तम पदार्थ उसे प्राप्त होने लगते हैं।

शौच

बन्धुओ!

ईशुचिर् पूतीभावे धातु से शौच शब्द सिद्ध होता है। शौच का अर्थ है पवित्रता। यह दो प्रकार की होती है बाह्य और आन्तरिक। बाह्य पवित्रता शरीर और स्थान की होती है। हमारा शरीर स्वच्छ व पवित्र रहे इसके लिये हमें व्यक्तिगत स्वास्थ्य के नियमों का पालन करना होता है। नित्य नियमित समय पर उठकर शौचादि से निवृत्त होकर व्यायामादि करने से, स्नानादि करने से, स्वच्छ वस्त्र धारण करने से और शुद्ध स्वच्छ व पवित्र सात्त्विक भोजन करने से शारीरिक स्वच्छता होती है। हमारे आवास व व्यवसाय के स्थान भी स्वच्छ होने आवश्यक हैं। घर स्वच्छ हो, आंगन स्वच्छ हो, रसोई स्वच्छ हो, शौचालय स्नानागार उससे भी अधिक स्वच्छ हो। कमरों में सभी वस्तुयें व्यवस्थित रखी हों, रसोई और घर के आस-पास कूड़े-कचरे का ढेर न लगा हो, मक्खियों और चूहों की भरमार न हो, नित्य प्रति हवन होता हो ऐसा दुर्गन्ध रहित शुद्ध वातावरण बाह्य पवित्रता के अन्तर्गत आता है। यह बाहर की शुद्धि मिट्टी, साबुन, जल आदि से होती है। मनुस्मृति के पञ्चम अध्याय में जहाँ किससे क्या शुद्ध होता है की विस्तार से चर्चा है वहाँ यह भी कहा गया—

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥

—मनु० ५।१०६

समस्त शुद्धियों में सबसे बड़ी शुद्धि धन की है, अर्थात् जिसने अन्याय से किसी का धन नहीं लिया है वही शुद्ध है। जो केवल मिट्टी, जल आदि से शुद्धि का ध्यान रखता है पर धन से शुद्ध नहीं वह मनु की दृष्टि में कथमपि शुद्ध नहीं। अस्तु!

बाह्य पवित्रता के पश्चात् आती है आन्तरिक पवित्रता। आन्तरिक पवित्रता बाहरी पवित्रता से भी अधिक महत्त्व रखती है। आन्तरिक

पवित्रता तब होती है जब चित्त में विद्यमान मद, मान, ईर्ष्या, असूया आदि मलों को धोया जाता है। मन को शुद्ध–पवित्र–शिवसंकल्पवाला बनाया जाता है। योगदर्शन के—

"**मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्**" (यो० द० १।३३) के आधार पर सुखियों के साथ मैत्री, दुःखियों के प्रति करुणा, पुण्यात्माओं के प्रति हर्ष, पापात्माओं के प्रति उपेक्षा या उदासीनता के भाव लाने से ईर्ष्या, क्रोध, अभिमान आदि समाप्त होते हैं। साथ ही '**मनः सत्येन शुध्यति**' सत्यभाषण, सत्याचरण आर्ष ग्रन्थों का स्वाध्याय और सत्संग मन की पवित्रता के लिये विशेष हितकारी है।

मान्यवर!

मन–वचन–कर्म की यह शुचिता मानव को बहुत ऊँचा उठा देती है। शुचिता का उपासक बाह्य सजावट से, फैशन से दूर रहकर आत्मतत्त्व के चिन्तन में लीन रहता है। आत्मिक शक्ति बढ़ाने का ही सतत प्रयास करता है। मानव जितना ही अधिक अपनी जीवन यात्रा में इन दोनों शुचिताओं का पालन करेगा उतना ही उसका यश एवं कीर्ति बढ़ेगी।

आप्त वचन

शौचं च द्विविधं प्रोक्तं, बाह्यमाभ्यन्तरं तथा।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं, भावशुद्धिस्तथाऽन्तरम्॥

अर्थ—शौच (शुद्धिः=शोधन) दो प्रकार का कहा गया है—बाहर का और भीतर का। मिट्टी और जल से बाहर की शुद्धि होती है, जबकि भावों को शुद्ध रखना अन्दर की शुद्धि है।

ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनो वार्युपाञ्जनम्।
वायुः कर्मार्ककालौ च, शुद्धेः कर्तॄणि देहिनाम्॥

अर्थ—ज्ञान, तपस्या, अग्नि, भोजन, मिट्टी, मन, जल, लेपन, वायु, कर्म, सूर्य और समय ये पदार्थ देहधारियों की शुद्धि के साधन हैं।

इन्द्रियनिग्रह

मनुप्रोक्त धर्म के लक्षणों में इन्द्रियनिग्रह का छठा स्थान है। आत्मा को ज्ञान पहुँचानेवाली पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ है—चक्षु, श्रोत्र, नासिका, त्वचा, रसना। आत्मा के आदेश पर काम करनेवाली पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं—वाक्-पाणि-पाद-पायु-उपस्थ। इन उभयविध इन्द्रियों के अपने-अपने विषय हैं जिनमें ये दिन-रात विचरण करती हैं। इन्द्रियों को बुरे विषयों से हटाकर पवित्र विषयों की ओर प्रेरित करना ही इन्द्रियनिग्रह है।

बन्धुओ! परमात्मा ने शरीररूपी नौका को खेने के लिये मनुष्य रूपी खेवट को दस इन्द्रियाँ प्रदान की हैं जो चप्पू का काम करती हैं यदि इन इन्द्रियों का सदुपयोग होता रहे तो यह शरीर दिव्य शरीर बन जाता है और दुरुपयोग होने से यही शरीर अदिव्य भी बन जाता है। शास्त्रकारों ने इसीलिए बड़ी सुन्दर बात कही—

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु
संयमे यत्नमातिष्ठेद् विद्वान् यन्तेव वाजिनाम्।

—मनु० २।६३

इसका अर्थ है—विषयों में विचरण करनेवाली इन्द्रियों का समझदार व्यक्ति उसी प्रकार नियन्त्रण करता है जैसे एक सारथि घोड़े की लगाम को। इन्द्रियों के नियन्त्रण के विषय में इससे बढ़कर (सुन्दर) दूसरा दृष्टान्त मिलना कठिन है। घोड़े पर सवार सारथि का सारा ध्यान घोड़े की गति पर रहता है यदि उसका ध्यान भंग हुआ तो पतन निश्चित ही नहीं सुनिश्चित है। ठीक इसी प्रकार जागरूक मनुष्य अपनी इन्द्रियों पर निरन्तर दृष्टिपात करते रहें अन्यथा उनका पतन भी सुनिश्चित है।

मान्यवर!

सन्ध्या के इन्द्रिय स्पर्श और मार्जन मन्त्रों में इन्द्रियों को पवित्र एवं बलवान् बनाने की प्रार्थनाएँ की गई है ये प्रार्थनाएँ इस बात की सूचक हैं कि इन्द्रियों को पवित्र नियन्त्रित करना पड़ता है ये स्वयं

सन्मार्ग की ओर चलें यह आवश्यक नहीं। ज्ञानेन्द्रियों को प्रशिक्षित

व नियन्त्रित करने के लिये हमें इन्हें इस प्रकार अभ्यस्त करना चाहिये कि ये बाह्य विषयों का यथार्थ ज्ञान देवमन को करायें पर उनमें आसक्त न हों।

उदाहरणार्थ—नासिका से हम सुगन्ध या दुर्गन्ध का ज्ञान प्राप्त करते हैं पर यदि हम सुगन्ध में इतने आसक्त हो जायें कि अमुक फूल की सुगन्ध लेने के लिये बार-बार उसके पास ही जायें या उस फूल के इत्र को तन पर लगाकर उस आसक्ति की आकांक्षा को पूरी करें या अन्य लोगों के तन पर लगी सुगन्ध जो उससे भी अच्छी लग रही है उसे प्राप्त करने के लिये आतुर हो उठें बस ऐसी आसक्ति ही चारित्रिक पतन की ओर ले जाती है। विषयों का ज्ञान हो, उसमें आसक्ति न हो तभी हम सत्कर्म कर पाते हैं। सत्कर्मों के संस्कार जब चित्त पर स्थायी अंकित होते हैं तब अच्छे संस्कार बनते हैं इसलिये ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों को मन द्वारा नियन्त्रित करते हुये इन्द्रिय निग्रहरूपी धर्म का पालन सभी को करना चाहिये।

बन्धुओ! इन्द्रियनिग्रह के प्रसंग में इतना और बता देना चाहती हूँ कि कुछ लोग इन्द्रियों को नष्ट कर इन्द्रिय को नियन्त्रित करने की बात कहते हैं। जैसे कि सुना जाता है बाबा सूरदास ने एक युवती से अपनी आसक्ति हटाने के लिये अपनी आँखों को शलाकाओं से फोड़ डाला इन्द्रियनिग्रह का यह प्रकार कथमपि उचित नहीं। इन्द्रियों का वशीकरण तो मात्र मन के वशीकरण से ही सम्भव है। आशा है मेरे इस संकेत को आप विस्तार से समझ गये होंगे।

आप्त वचन

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च, भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा, स विज्ञेयो जितेन्द्रियः॥

अर्थ—जो मनुष्य सुनकर, स्पर्श करके, देखकर, खाकर और सूँघकर न प्रसन्न होता है और न अप्रसन्न होता है, उसे ही जितेन्द्रिय जानना चाहिए।

आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः।
तज्जयः सम्पदां मार्गो, येनेष्टं तेन गम्यताम्॥

अर्थ—इन्द्रियों को वश में न रखना आपत्तियों (में गिरने) का मार्ग है। इन्द्रियों को जीत लेना सम्पत्तियों (को पाने) का मार्ग है।

(अब) आपको जो इष्ट हो उस मार्ग से जाइये।

धीः

मान्यवर!

धर्म के दस लक्षणों में मैं 'धी' के सम्बन्ध में आपके समक्ष अपने विचार रखूँगी। धी का अर्थ है बुद्धि। मनुस्मृति के टीकाकारों ने धी का अर्थ करते हुये लिखा—"**शास्त्रादितत्त्वज्ञानं धीः।**" अर्थात् किसी भी शास्त्र के या किसी भी प्रसंग के तत्त्व तक पहुँचानेवाला साधन धी है, बुद्धि है। धर्म मार्ग पर चलने के लिये मनुष्य की तात्त्विक बुद्धि होनी भी आवश्यक है अन्यथा "**अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः**" जैसे एक नेत्रहीन के पीछे सैकड़ों नेत्रहीन चल पड़ते हैं या एक भेड़ के पीछे हजारों भेड़ें मुँह झुकाकर चल पड़ती हैं वैसे ही तात्त्विक बुद्धि से हीन मनुष्यों की भी स्थिति हो जाती है। खेद की बात है कि आज अधिकांश मनुष्य धर्म के क्षेत्र में इसी प्रकार चल रहे हैं। तात्त्विक बुद्धि है पर वह धर्म के लिये नहीं अन्य विषयों के लिये। धर्म के विषय में आत्मा-परमात्मा के विषय में आज का मनुष्य वही मानता है जो उसके मजहबी ग्रन्थ कह रहे हैं, या उसके पैगम्बर या गुरुदेव कह रहे हैं। अन्य विषयों में तत्त्व का अवगाहन करनेवाली उनकी बुद्धि धर्म के विषय में सहसा क्यों कुण्ठित हो जाती है जबकि शास्त्रों में कहा है— "**यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मो वेद नेतरः।**" (मनु० १२।१०६) बुद्धि से, तर्क से, अनुसन्धान करने पर जो तत्त्व स्थिर हो उसी का नाम धर्म है। "**मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयञ्च यत्**" (अथर्व० १०।२।२६) कहकर अथर्ववेद में भी यही कहा कि किसी बात को स्वीकार करने के लिये केवल हार्दिक पक्ष होना ही जरूरी नहीं बल्कि मस्तिष्क का भी सम्बन्ध होना आवश्यक है। फिर भी आश्चर्य है मजहब के विषय में अकल को दखल नहीं कहकर मतान्ध लोग मजहब में बुद्धि की अनुपयोगिता की बात करते हैं।

करते हैं।

मान्यवर! शास्त्रों में बुद्धि के आठ भेद बताये गये हैं, धर्म,

ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य एवं अनैश्वर्य। बुद्धि के इन रूपों का गुण है सत्त्व, रजस् तथा तमस्। इन सभी रूपों का, वृत्तियों का विकास बुद्धि में ही होता है। जब जो वृत्ति प्रधान होती है तब उससे भिन्न वृत्तियाँ दब जाती हैं। हमारा सदा यही प्रयास होना चाहिये कि राजसी और तामसी वृतियाँ दबी रहें तथा सात्त्विक वृत्ति की वृद्धि हो। सात्त्विक वृत्ति में लगी बुद्धि सदा धर्म में प्रवृत्त रहती है। बुद्धि को सत्त्व प्रधान बनाने के साधन हैं—वेदादि सत्यविद्या, ब्रह्मचर्य और सत्संग। महर्षि दयानन्द ने संस्कारविधि के गृहाश्रम प्रकरण में इन्हीं उपायों से बुद्धि को सात्त्विक तथा सदा बढ़ाने की बात लिखी है और ऐसी निर्मल सात्त्विक बुद्धि की ही प्रार्थना वेदों में पदे-पदे की गयी है। वेदों के साररूप गायत्री में भी तो बुद्धि की ही प्रार्थना है। धियो यो नः प्रचोदयात्—हे प्रभो! आप हमारी बुद्धियों को सदा सन्मार्ग की ओर प्रेरित कीजिये हमारी बुद्धि तात्त्विक हो, सात्त्विक हो जिससे हमे सदा धार्मिक कार्य कर सकें। इसी प्रार्थना के साथ मैं अपने वक्तव्य को विराम देती हूँ।

आप्त वचन

शुश्रूषा श्रवणं चैव, ग्रहणं धारणं तथा।
ऊहापोहाऽर्थविज्ञाने तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः॥

अर्थ—श्रवण करने की इच्छा, श्रवण करना, सुने हुए को ग्रहण करना, ग्रहण किये हुए को चिरकाल तक धारण करना, तर्क-वितर्क प्रतिभा, अर्थ का विशेष ज्ञान और तत्त्वज्ञान; ये बुद्धि के सात गुण हैं।

उदीरितोऽर्थः पशुनाऽपि गृह्यते, हयाश्च नागाश्च वहन्ति देशिताः।
अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः, परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः॥

अर्थ—प्रकट किया गया अभिप्राय पशु के द्वारा भी ग्रहण कर लिया जाता है, घोड़े और हाथी भी सङ्केतों के अनुसार चलते हैं। बुद्धिमान् मनुष्य बिना कहे भी अभिप्राय को भांप जाता है। दूसरे के संकेत मात्र से ही अभिप्राय को जान लेना, यही बुद्धि का लक्षण है।

है।

विद्या

आइये अब हम धर्म के आठवें लक्षण विद्या पर विचार करते हैं। विद्या और अविद्या दोनों ही बहुत प्रसिद्ध शब्द है अर्थ भी इनका प्रसिद्ध है, विद्या का अर्थ है यथार्थ ज्ञान और अविद्या का अर्थ है अयथार्थ ज्ञान। विद्या शब्द विद ज्ञाने धातु से क्यप् प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है। विद्या शब्द की व्युत्पत्ति करते हुये महर्षि दयानन्द लिखते हैं—'**वेत्ति यथावत्तत्वपदार्थस्वरूपं यया सा विद्या**' अर्थात् जिससे पदार्थों का यथार्थस्वरूप विदित हो वह विद्या कहाती है। इसी प्रकार अविद्या का लक्षण किया गया—'**यया तत्त्वस्वरूपं न जानाति भ्रमादन्यस्मिन् अन्यत् निश्चिनोति सा अविद्या।**' जिससे तत्वस्वरूप न जानं पड़े अन्य में अन्य बुद्धि होवे वह अविद्या कहाती है। दर्शनकारों ने अविद्या का लक्षण इस प्रकार भी किया है—"**अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचि-सुखात्मख्यातिरविद्या**"। —(यो० द० २।५)

अर्थात् अनित्य में नित्य, अपवित्र में पवित्र, दुःख में सुख, अनात्मा में आत्मा की प्रतीति होना अविद्या है। इस प्रकरण के गूढार्थ में जायें तो यहाँ विद्या का अर्थ यथार्थ ज्ञान और अविद्या का अर्थ अयथार्थ ज्ञान ही ध्वनित होता है। अनित्य वस्तुओं में नित्यता का, अपवित्र वस्तुओं में पवित्रता का बोध अयथार्थ ज्ञान ही तो है।

मान्यवर! प्रश्न उठता है इस संसार में जानने योग्य पदार्थ कौन-कौन से हैं जिनके यथार्थ ज्ञान से मनुष्य धार्मिक कहलाता है। उत्तर है—परमेश्वर से लेकर तृणपर्यन्त अनेक ऐसे पदार्थ हैं जो जानने योग्य हैं परन्तु इन सब असंख्य पदार्थों में से कुछ ऐसे पदार्थ हैं जिनके यथार्थ ज्ञान से आत्मा मुक्ति को प्राप्त होता है और मिथ्या ज्ञान से बन्धन को। जिन पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से आत्मा मुक्त होता

हैं वे पदार्थ न्यायदर्शन में इस प्रकार गिनाये गये—

"आत्मशरीरेन्द्रियार्थमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्।" (न्याय द० १।१।९) मुक्त होने के लिये सर्वप्रथम प्रमेय

पदार्थ आत्मा है। इसके आगे प्रमेय पदार्थ हैं—भोगायतन शरीर, भोग के साधन इन्द्रिय, इन्द्रियों के विषय, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख तथा अपवर्ग।

उपनिषदों में इन पदार्थों के ज्ञान को परा विद्या कहा गया है और यह भी कहा गया—"द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैव अपरा च" अर्थात् मनुष्यों को अपरा विद्या=पदार्थ विद्या और परा विद्या अध्यात्म विद्या दोनों ही जाननी चाहिये। इन दोनों विद्याओं में परा विद्या उत्कृष्ट मानी जाती है, क्योंकि यह मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करती है। जिस शिक्षा में मुक्ति की, आत्मा परमात्मा की कोई चर्चा न हो, मात्र आजीविका हेतु प्रशिक्षण दिया जाता हो, वैदिक शास्त्रों की दृष्टि में वह विद्या नहीं अविद्या है, क्योंकि "सा विद्या या विमुक्तये" कहा गया है "सा विद्या या नियुक्तये" नहीं।

बन्धुओ! धर्म का विद्या के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है तभी तो मनु महाराज ने धर्म के दस लक्षणों में विद्या को स्थान दिया। समस्त वेद भी इसी यथार्थ ज्ञान को बताने के लिये प्रवृत्त हुये। विद्या के बिना मनुष्यत्व भी नहीं रह सकता इसलिए वेद और वेदानुकूल शास्त्र विद्या पर बहुत बल देते हैं। विद्या की अमिट छाप आत्मा पर पड़ती है। विद्या का नाश, विद्या की चोरी असम्भव है क्योंकि वह आत्मा का गुण है इसलिए वेद ने कहा—

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति।
देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह॥

—(अथर्व० ४।२१।३)

विद्या के इस महत्त्व को जानकर विद्या के ग्रहण करने और प्रचार करने में हम सबको विशेष यत्न करना चाहिये।

आप्त वचन

सर्वद्रव्येषु विद्यैव, द्रव्यमाहुरनुत्तमम्।
अहार्यत्वादनर्घत्वादक्षयत्वाच्च सर्वदा॥

अर्थ—हरण के अयोग्य होने से, अमूल्य होने से और कभी क्षीण न होने से विद्या को ही सब पदार्थों में सर्वोत्तम पदार्थ कहा गया है।

सत्य

धर्म के लक्षणों में परिगणित 'सत्य' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखने के कारण धर्म का अपर पर्याय माना जाता है। मनु कहते हैं—

नहि सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकं परम्।
नहि सत्यात् परं ज्ञानं तस्मात् सत्यं विशिष्यते॥

—मनु० ५।६

सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं और झूठ से बढ़कर कोई पाप नहीं। इसी प्रकार महाभारतकार व्यास ने हजार अश्वमेध यज्ञों की अपेक्षा सत्य को ऊँचा स्थान दिया। कहाँ तक बताऊँ सत्य की महिमा का वर्णन करते हुए सभी शास्त्र अघाते नहीं।

आइये! अब हम विचार करें कि सत्य का स्वरूप क्या है और सत्य किसे कहते हैं। इस विषय के परिज्ञान के लिए योगदर्शन के व्यासभाष्य को देखना होगा। वहाँ लिखा है—

सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे।

वाणी और मन का अर्थ के अनुकूल होना ही सत्य है। अर्थात् जैसा हमने इन्द्रियों से देखा, प्रमाणों से जाना, ठीक वैसा ही वाणी से कहना और मन से चिन्तन करना सत्य है। यदि किसी को किसी विषय का ज्ञान कराने के लिए हमारी वाणी ठगती है, भ्रम में डालती है, तो वह असत्य है सत्य नहीं।

सत्य की व्याख्या में महर्षि व्यास ने एक बात और भी महत्त्वपूर्ण कही है कि—"**एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय।**" अर्थात् यह सत्य वाणी भी प्राणिमात्र की रक्षा करनेवाली होनी चाहिए हिंसा करनेवाली नहीं। अतः सावधानी से परीक्षा करके सब प्राणियों का हित करनेवाला सत्य व्यक्ति को बोलना चाहिये। हितकारी सत्य के साथ मधुरता के समावेश की बात भी शास्त्रकार कहते हैं—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियञ्च नानृतं ब्रूयात् एष धर्मः सनातनः॥

—मनु० ४।१३८

सत्य बोलो पर मधुर सत्य बोलो, अप्रिय सत्य मत कहो, न ही प्रिय असत्य बोलो। यदि आप अप्रिय सत्य बोलते हैं तो ऐसे सत्यभाषण से दूसरों के मन को आघात पहुँचता है, मानसिक हिंसा होती है तो वह धर्म नहीं धर्माभास है।

मान्यवर! सत्य बोलना, सत्य सुनना, सत्य करना, वस्तुतः एक महान् तप है, इस तप के पश्चात् परमात्मा को भी प्राप्त करना कठिन नहीं क्योंकि परमात्मा सत्य रूप है, हिन्दी कवियों ने क्या ही सुन्दर कहा है—

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप!
जाके हृदय साँच है, ताके हृदय आप॥

यह संसार, यह द्यौलोक, यह आकाश, यह पृथिवी, सत्य पर ही टिके हुये हैं—"**सत्येनोत्तभिता भूमिः सत्येनोत्तभिता द्यौः**" (ऋ० १०।८५।१) सत्यरूप परमात्मा के सत्य रूप संसार में मनुष्य को भी आदेश दिया गया है, वह सर्वदा सत्य का व्यवहार करे। गुरुकुल में उपनयन संस्कार कराते समय अष्टवर्षीय ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी से आचार्य जन अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, परमेश्वर को साक्षी बनाके पाँच प्रतिज्ञा मन्त्रों का उच्चारण करवाते हैं। पर पाँचों मन्त्रों में प्रतिज्ञा एक ही है, असत्य को छोड़कर सत्य की ओर चलने की है। "इदम् अहम् अनृतात् सत्यम् उपैमि।" उपनयन वेदारम्भ संस्कार के समय पर की गई इस प्रतिज्ञा की ब्रह्मचारी पर अमिट छाप पड़ती है जो उसे जीवन भर सत्य पर आरुढ़ होने के लिये प्रेरित करती रहती है।

पर बन्धुओ! जहाँ पर ऐसे संस्कारों का अभाव हो, ऐसी शिक्षा का अभाव हो या पूर्वजन्म के कुसंस्कार प्रबल हो, वहाँ झूठ बोलने में, झूठी गवाही देने में, किसी की मूल्यवान् वस्तु को चुराने में संकोच नहीं होता। मनुष्य यह सब कुछ सुख प्राप्ति की अभिलाषा में करता है पर याद रखें पाप का परिणाम सुख कभी नहीं होता। इन पापों से बचने का एक मात्र उपाय है आस्तिकता। हम यह सोचकर कि असंख्य जीवों के कर्म भगवान् कहाँ तक याद रख

सकता है, अनुचित या निषिद्ध कर्म कर बैठते हैं, पर यह हमारी बहुत बड़ी भूल है। वेद कहता है "**संख्याता अस्य निमिषो जनानाम्।**" (अथर्व० ४।१६।५) हे मनुष्यो! तुम अपनी स्मरण शक्ति से उसका अनुमान मत करो। एक मनुष्य अपनी सारी आयु

में जितनी बार आँखें झपकता है उसका हिसाब भी प्रभु सुरक्षित रखता है।

बहिनों एवं भाइयो! इसमें सन्देह नहीं सत्य अस्तेय अहिंसादि का पालन करने में बहुत-सी समस्याएँ आती हैं, कभी बड़े विचित्र एवं कटु अनुभव भी होते हैं। कभी अत्यन्त निराशा हाथ लगती है परन्तु घबराएँ नहीं धैर्य रखें। शुभ कर्म परिणाम में सुखदाई होते हैं इस बात पर पूर्ण विश्वास रखें। और विश्वास रखें आंग्ल विचारक के इस कथन पर भी कि—

Some will hate thee, some will love thee.
Some will flatter, some will slight.
Cease from man, and look above thee.
Trust in god, and do the right.

सत्य की साधना करने से साधक को यश श्री उत्तम सन्तानादि सब कुछ प्राप्त होता है। इस विषय में मैं आपको एक छोटी-सी कथा सुनाना चाहती हूँ जो कुछ दिनों पूर्व मैंने अमर उजाला में पढ़ी थी—

बंगाल के खुदीराम चट्टोपाध्याय अपनी सत्य साधना के लिये विख्यात थे। एक बार उनके गाँव का जमींदार उनसे आकर बोला कि खुदीराम! कल तुम्हें कचहरी में गवाही देनी है और जो गवाही देनी है उसे अच्छी तरह याद कर लो इतना सुनना था कि चट्टोपाध्यायजी बोल उठे मैं सत्य ही कहता आया हूँ आगे भी सत्य ही कहूँगा मुझसे आप कृपया झूठी गवाही न दिलवाएँ। जमींदार क्रोध में भरकर बोला यदि ऐसा है तो तुम्हें इस गाँव से निकाल दिया जायेगा। खुदीराम कुछ चिन्तन करने के पश्चात् एक बैलगाड़ी ले आये, अपनी धर्मपत्नी से बोले—सब सामान लेकर दूसरे गाँव चलना है, और उसी दिन दूसरे गाँव चले गये। दूसरे गाँव में भी उनकी सत्यता की धाक बैठ गई। सब लोक उनका सम्मान करने लगे। आगे चलकर इसी परिवार में स्वामी रामकृष्ण परमहंस जैसी दिव्य विभूति का जन्म हुआ। रामकृष्ण परमहंस की सत्यवादिता, जितेन्द्रियता, निःस्पृहता, करुणा आदि गुणों की ख्याति सुनकर लोग

कह उठे कि—'निस्सन्देह यह खुदीराम चट्टोपाध्याय की सत्य साधना का ही परिणाम है।'

तो बन्धुओ! याद रखें सत्य की साधना कभी भी निष्फल नहीं होती। धन्यवाद।

अक्रोध

मान्यवर!

बहुत देर से आप मुझसे पूर्व वक्त्री बहिनों के वक्तव्य सुन रहे हैं। बैठे-बैठे सम्भवतः आप थक गये होंगे, आपको अब मुझे सामने देखकर क्रोध भी आ रहा होगा, किन्तु मुझे अक्रोध पर ही कुछ कहना है इसलिये धैर्य रखिये कृपया क्रोध न कीजिए। धर्म का दसवाँ लक्षण है अक्रोध। घञ् प्रत्ययान्त क्रोध शब्द से नञ् समास करने पर अक्रोध शब्द निष्पन्न होता है। मनुस्मृति के टीकाकारों ने इसकी परिभाषा इन शब्दों में की—''क्रोधहेतौ सत्यपि क्रोधानुत्पत्तिः अक्रोधः।'' क्रोध का कारण उपस्थित होने पर भी क्रोध न करना अक्रोध कहा जाता है। मनुष्य के जीवन में अनेक ऐसे प्रसंग आते हैं जब उसे क्रोध आता है, किन्तु अनेक बार मनुष्य बिना कारण के भी क्रोध करता है। अकारण क्रोध करना तो उचित है ही नहीं किन्तु कारण उपस्थित होने पर भी क्रोध न आये तो समझिये आपने क्रोध को जीत लिया—

अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्।

एक बार की बात है—दादूभक्त एक गाँव के निकट नित्य ईश्वर भजन तथा उपदेश किया करते थे। उनकी इस बात की चर्चा चारों ओर फैल गयी थी। इस ख्याति को सुनकर एक कोतवाल भी उनके दर्शन के लिये पहुँचा। वहाँ गाँव के निकट एक जंगल में एक व्यक्ति घास काट रहा था। कोतवाल अपने घमण्ड में था। वह घमण्ड से बोला—ओ घसियारे! तुझे पता है दादूभक्त कहाँ रहते हैं। घास काटनेवाले ने कोई उत्तर न दिया। इसी प्रकार जब दूसरी तीसरी बार पूछने पर भी कोई उत्तर न मिला तो कोतवाल घोड़े से

उतरा और उसने ५-६ हण्टर घास काटनेवाले पर लगा दिये। उसके सिर से खून बह निकला किन्तु पुनः पूछने पर भी वह मुस्कराता रहा कोई उत्तर न दिया। कोतवाल ने उसे पागल समझा और वहाँ से चल दिया। कुछ दूर जाने पर कोतवाल को एक व्यक्ति मिला

उससे जब पता चला कि जिसे उसने लहू-लुहान किया है वे दादूभक्त ही हैं तब तो वह घबरा गया और तुरन्त जाकर क्षमा माँगी, फिर कहा आप सड़क साफ कर रहे थे मैं आपको पहचान नहीं पाया। दादू बोले—इस सड़क पर जब काम-क्रोध, लोभ-मोह और अहंकार की झाड़ियाँ उग जाती हैं तब रास्ता साफ नहीं दीखता इसलिये साफ करना आवश्यक है। कोतवाल ने कहा कि आपने उत्तर क्यों नहीं दिया तो दादू बोले—तुम गुरु की खोज में आये थे। मनुष्य जब एक साधारण बर्तन भी खरीदता है तो ठोक-पीटकर देखता है, तुमने भी यही किया इसमें गलत क्या है।

इस प्रकार क्रोध का कारण उपस्थित होने पर भी क्रोधित न होने का इससे बड़ा उदाहरण और क्या मिल सकता है। महर्षि दयानन्द, महात्मा गाँधी, महात्मा बुद्ध आदि महापुरुषों ने अपने जीवन में अनेक ऐसे उदाहरण उपस्थित किये कि इनसे क्रोध ने कदम-कदम पर पराजय स्वीकार की।

भाइयो! जैसा कि अभी हमारी पूर्व वक्त्री बहन क्षमा पर विचार रखते हुए कह चुकी हैं कि क्रिया की प्रतिक्रिया होनी स्वाभाविक है। पर इस प्रतिक्रिया से बचना भी अत्यन्त आवश्यक है। हमें किसी बात पर क्रोध आ रहा है कोई बात नहीं खूब क्रोध करें लेकिन ध्यान रखें क्रोध में पागल भी हो सकते हैं या हो सकता है हार्ट-अटैक भी हो जाये। यह बीमारी मन से उपजती है इससे शरीर भी नष्ट होता है और परिवार भी, इसलिए इस बीमारी से बचें एक गिलास ठण्डा पानी पीयें, विवेक जगायें और थोड़ा शान्त होकर बैठ जायें, हो सकता है हम अकारण ही क्रोधित हो रहे हों और कारण भी हो तो भी यह निश्चित जानें क्रोध के बदले क्रोध करने से हम दूसरे पक्ष पर विजय प्राप्त नहीं कर सकते, हमें अपने ऊपर ही नियन्त्रण करना चाहिये। भाइयो! अब हम थोड़ी देर के लिये क्रोध के कारणों पर विचार करते हैं। क्रोध वास्तव में अभीष्ट

वस्तु की अप्राप्ति या अनिच्छित अनिष्ट कार्य होने पर आता है यानि वह अभीष्ट वस्तु जिसकी अप्राप्ति पर हमें क्रोध आ रहा है, उस वस्तु से हमें अत्यन्त लगाव है, आसक्ति है इससे यह सिद्ध हुआ कि आसक्ति ही क्रोध का मूल है।

गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभि जायते।

—गीता २।६२

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

—गीता २।६३

आसक्ति से संग, संग से काम, काम से क्रोध, क्रोध से लोभ, लोभ से मोह, मोह से स्मृति विभ्रम, स्मृति विभ्रम से बुद्धिनाश होता है इसके बाद मनुष्य का पतन निश्चित हो जाता है। इसलिए ये सब पतन की सीढ़ियाँ बतायी गयी हैं, ये आसुरी प्रवृत्तियाँ हैं। ईर्ष्या, द्वेष, असूया आदि विकार भी इसी प्रजाति के हैं, ये सभी आसक्ति से ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए आवश्यक है कि सांसारिक पदार्थों के प्रति हमारी आसक्ति न हो। जल में कमल की भाँति हमारा निवास हो। वस्तुतः यह स्थिति योगियों की ही हो सकती है किन्तु सांसारिक जन आसक्ति न करें यह सम्भव नहीं। उनके लिये यह कार्य अत्यन्त कठिन है। परन्तु फिर भी प्रयास करना चाहिये कि आसक्ति से जहाँ तक हो सके हम बचें। आसक्ति व्यक्तिगत स्तर पर हो या सामाजिक स्तर पर दुःखदायी होती है। क्योंकि आसक्ति ही वैर-भाव को जन्म देती है। यह वैर, हिंसा और क्रोध का ही रूप है—योगदर्शन में कहा—"**अहिंसाप्रतिष्ठायां वैरत्यागः**" (यो० द० २।३५) अर्थात् जब अहिंसा की प्रतिष्ठा हो जाती है तब प्राणिमात्र से वैरभाव समाप्त हो जाता है। वैरभाव समाप्त होने पर अहिंसा का उदय होता है, अहिंसा के भाव आने पर क्रोध का तो प्रश्न ही नहीं उठता। मुझे तो लगता है वृद्धजन या आचार्यजन जो हम पर क्रोध करते हैं उसे इसीलिए क्रोध नहीं कहा जाता क्योंकि उनका क्रोध वैरभाव से उत्पन्न नहीं वह तो हमारे सुधार के लिये

है। परमात्मा भी कभी क्रोध नहीं करता यदि वह क्रोधी होता तो 'मन्युरसि मन्युं मयि धेहि' की तरह 'क्रोधोऽसि क्रोधो मयि धेहि' का भी हम पाठ करते। इसलिए आइये हम और आप क्रोधरूपी महाशत्रु का परित्याग कर धर्म के इस दसवें लक्षण अक्रोध को अपने जीवन में अपनायें। मानसिक शान्ति धारण करें।

धर्म के ११ लक्षण

सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण, संस्कारविधि के गृहाश्रम प्रकरण तथा पूना प्रवचन=उपदेशमञ्जरी के तृतीय प्रवचन में महर्षि दयानन्द ने **धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयम्.......** श्लोक की व्याख्या में अहिंसा को मिलाकर धर्म के ११ लक्षण गिनाये हैं। संस्कारविधि में स्वामी दयानन्द की व्याख्या इस प्रकार है—

इस धर्म के ग्यारह लक्षण हैं (अहिंसा) किसी से वैर-बुद्धि करके उसके अनिष्ट करने में कभी न वर्त्तना। (धृतिः) सुख-दुःख, हानि-लाभ में भी व्याकुल होकर धर्म को न छोड़ना, किन्तु धैर्य से धर्म ही में स्थिर रहना। (क्षमा) निन्दा-स्तुति, मानापमान का सहन करके धर्म ही करना। (दमः) मन को अधर्म से सदा हटाकर धर्म ही में प्रवृत्त रखना। (अस्तेयम्) मन-कर्म-वचन से अन्याय और अधर्म से पराये द्रव्य का स्वीकार न करना। (शौचम्) राग-द्वेषादि त्याग से आत्मा और मन को पवित्र और जलादि से शरीर को शुद्ध रखना। (इन्द्रियनिग्रहः) श्रोत्रादि बाह्य इन्द्रियों को अधर्म से हटाके धर्म ही में चलाना। (धीः) वेदादि सत्यविद्या, ब्रह्मचर्य, सत्सङ्ग करने और कुसङ्ग, दुर्व्यसन, मद्यपानादि त्याग से बुद्धि को सदा बढ़ाते रहना। (विद्या) जिससे भूमि से लेके परमेश्वरपर्यन्त का यथार्थ बोध होता है, उस विद्या को प्राप्त होना। (सत्यम्) सत्य मानना, सत्य बोलना, सत्य करना। (अक्रोधः) क्रोधादि दोषों को छोड़कर शान्त्यादि गुणों का ग्रहण करना धर्म कहाता है, इसका ग्रहण और अन्याय, पक्षपात-सहित आचरण अधर्म, जोकि हिंसा=वैर-बुद्धि, अधैर्य, असहन, मन को अधर्म में चलाना, चोरी करना, अपवित्र रहना, इन्द्रियों को

न जीतकर अधर्म में चलाना, कुसङ्ग, दुर्व्यसन, मद्यपानादि से बुद्धि का नाश करना, अविद्या जोकि अधर्माचरण, अज्ञान है उसमें फँसना, असत्य मानना, असत्य बोलना, क्रोधादि दोषों में फँसकर अधर्मी, दुष्टाचारी होना, ये ग्यारह अधर्म के लक्षण हैं, इनसे सदा दूर रहना चाहिए।

लेखिका-परिचय

डॉ० प्रियंवदा वेदभारती ने १४ जुलाई १९९६ से स्वस्थापित गुरुकुल आर्ष कन्या विद्यापीठ के सञ्चालन का गुरुतर भार सम्भाला है। इन्होंने २५ वर्षों तक पाणिनि कन्या महा विद्यालय वाराणसी में डॉ० प्रज्ञा देवी व पं० मेधादेवी की अन्तेवासिनी बनकर १५ वर्ष तक अध्ययन तथा उसके बाद १० वर्षों तक अध्यापन का कार्य किया। आपने सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से 'प्राचीन व्याकरण तथा वेद-निरुक्त विषय में आचार्य परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की तथा सर्वप्रथम 'परीक्षार्थी के रूप में प्रतापभाई शूरजी स्वर्णपदक तथा सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय स्वर्णपदक प्राप्त किया। इनका शोध विषय आर्यजगत् के दिग्गज विद्वान् पं० युधिष्ठिर मीमांसकजी के परामर्शानुसार **पाणिनीय-व्याकरणवाङ्मये यज्ञीयमीमांसा** है। प्राञ्जल संस्कृत भाषा में लिखा गया यह शोधग्रन्थ डॉ० रामनाथ वेदालङ्कार प्रभृति वैदिक विद्वानों से सुपरीक्षित तथा पाणिनीय व्याकरण शास्त्र में विवृत समग्र यज्ञीय विषयों का व्यापक अध्ययन तथा शोधपूर्ण समीक्षण है। आशा है यह कृति शीघ्र ही हिन्दी भाषा में अनुवादसहित पाठकों को प्राप्त हो सकेगी। डॉ० वेदभारती ने यज्ञीय तथा वैदिक विषयों पर अनेक शोधपूर्ण लेख संस्कृत तथा हिन्दी भाषा में लिखे हैं। आपके कन्या गुरुकुल की अनेक लब्धप्रतिष्ठ स्नातिकायें आर्यजगत् में वेदों के प्रचार-प्रसार में लगी हैं। डॉ० प्रियंवदा का यज्ञीय ऋत्विक् कर्म तथा वैदिक प्रवचन आर्यजगत् में प्रशंसा के साथ सुना जाता है।